देश की सर्वोच्च लोकतांत्रिक संस्था संसद में एनसीईआरटी की राजनीति की पाठ्यपुस्तकों पर बहस उठी। इस बहस ने कुछ सवालों को जन्म दियाः कैसी हों राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें? कैसी थीं एनसीएफ 2005 से पहले की पाठ्यपुस्तकें? उनकी समस्याएं क्या थीं? स्कूल स्तर पर राजनीति विज्ञान शिक्षण का मकसद क्या हो? आदि-आदि। ये किताबें देश के अनेक शीर्षस्थ राजनीति शास्त्रियों और शिक्षाकर्मियों की साझी ऊर्जा से तैयार हुईं। यह लेख इन किताबों की निर्माण-प्रक्रिया की नूतनता, गंभीरता एवं जीवन्तता से पाठकों का आलोचनात्मक परिचय करवाता है। इस लेख को पाठ्यपुस्तकों की रचना प्रक्रिया में आत्म-अवलोकन और सतत सजगता के उदाहरण के रूप में पढ़ा जा सकता है।

पाठ्यपुस्तकों पर विवाद, विमर्श और नई दिशाएं

योगेन्द्र यादव

बहस लोकतंत्र की प्राण वायु है। लोकतांत्रिक व्यवस्था इस आस्था की बुनियाद पर टिकी है कि किसी एक व्यक्ति, ग्रंथ या विचारधारा को ज्ञान का एकाधिकार हासिल नहीं है। मामूली और अनपढ़ व्यक्ति भी सोच रखता है और यह सोच ज्ञान का स्रोत हो सकती है। इसलिए फैसला लेने से पहले जरूरी है कि सबकी बात सुनी जाए - चाहे वह बात तीखी हो, चाहे वह खालिस सच न हो, चाहे उसमें सोच के साथ स्वार्थ की मिलावट हो, चाहे तर्कसंगत और अनर्गल का घालमेल हो। इसी समझ के चलते हर बड़े मुद्दे पर खुली और सार्वजनिक बहस पर एक स्वस्थ लोकतंत्र का लक्षण माना जाता है।

इस लिहाज से राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 के तहत लिखी गई एनसीईआरटी की राजनीति शास्त्र की पाठ्यपुस्तकों पर हुई राष्ट्रीय बहस का स्वागत होना चाहिए। स्वतंत्र भारत के इतिहास में पहली बार संसद के भीतर और बाहर इस सवाल पर खुली चर्चा हुई कि हमारा लोकतंत्र अपने नागरिकों की आने वाली पीढ़ियों को लोकतांत्रिक नागरिक के दायित्व के लिए कैसे तैयार करे। आम तौर पर राजनैतिक बहसों के हाशिये पर पड़े राजनीति शास्त्र को कुछ तवज्जो दी

परिचय

विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली में सीनियर फैलो हैं। एनसीईआरटी द्वारा निर्मित राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों के मुख्य सलाहकार रहे हैं।

गई, इसके स्वरूप पर कुछ चर्चा हुई। अमूमन शिक्षा के सवाल पर उदासीन रहने वाले या शिक्षा को महज बजट और आंकड़ों का सवाल समझने वाले मीडिया में कम से कम एक बार पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकों को भी कुछ जगह मिली। भारतीय लोकतंत्र अपना इतिहास कैसे लिखेगा और उसमें राष्ट्रीय नायकों की छवि का चित्रण कैसे होगा, इस कठिन सवाल पर बातचीत हुई। यह सवाल भी उठा कि पाठ्यपुस्तकों के निर्माण और संशोधन में सरकार की क्या भूमिका होनी चाहिए और शैक्षणिक संस्थाओं की स्वायत्तता के क्या मायने हैं?

लोकतांत्रिक राजनीति के दैनंदिन शोर-ओ-गुल, धक्का-मुक्की और छीना-झपटी के बीच इस बहस का होना अपने-आपमें एक घटना है। फिलहाल यह स्पष्ट नहीं है कि दीर्घकाल में इस घटना के फलित सकारात्मक होंगे या नकारात्मक। जाहिर है, फिलहाल बहस की विषयवस्तु पर बहस की शुरुआत का संयोग हावी है, कुतर्क की परछाई तर्क-वितर्क से ज्यादा लंबी है, दीर्घकालिक संभावनाओं को तात्कालिक आशंकाओं ने ढका हुआ है। वक्त की गर्द छंटने पर ही हम देख पाएंगे कि इस बहस का दीर्घकालिक परिणाम क्या निकला। पाठ्यपुस्तकों और स्वायत्त संस्थाओं को सरकार और संसद की मनमानी से बचाने की कोई व्यवस्था बन पाई या नहीं? समुदायों और राजनैतिक समूहों की संवेदनशीलता और उसकी आक्रामक अभिव्यक्ति के सामने बेलाग सच बोलने की गुंजाइश बचती है या नहीं? एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में लोकतंत्र का सम्मान होगा या नहीं? इन सब सवालों का अंतिम उत्तर देने की जल्दबाजी हमें निराशाबोध की ओर धकेल सकती है।

इस बहस के दीर्घकालिक फलितार्थ निकालने में हमारी एक छोटी लेकिन अहम् भूमिका हो सकती है। लोकतांत्रिक राजनीति की हर बहस की तरह यह बहस भी एक विशिष्ट संदर्भ में पैदा हुई और ज्यादातर बहस उसी संदर्भ तक सीमित होकर रह गई। पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु पर चर्चा महज कार्टूनों तक सीमित रही। उस बहाने डॉ. अंबेडकर, हिन्दी विरोधी आंदोलन और राजनेताओं की छवि को लेकर कुछ चर्चा हुई। इस बहस के चलते इन पाठ्यपुस्तकों और इनके दर्शन के कुछ सामान्य या गौण पहलुओं को प्रमुखता मिल गई। आलोचकों और उनके चलते समर्थकों दोनों का ध्यान इन पक्षों पर केंद्रित रहा। इस बहस की तात्कालिक सीमा इसकी दीर्घकालिक सीमा न बन जाएं, इसके लिए जरूरी है कि इस बहस में संयोगवश हावी हो गए मुद्दे हमारी चर्चा का प्रस्थान बिंदु न बन जाएं। इस ऐतिहासिक जिम्मेवारी का तकाजा है कि हम इस बहस से जुड़े विवाद पर गौर करने से पहले इन पाठ्यपुस्तकों को इनके अपने संदर्भ में समझें। अपनी चर्चा को इस बहस में उछले चंद सवालों का जवाब देने या फिर आरोपों की सफाई पेश करने तक सीमित रखना अपनी ऐतिहासिक जिम्मेवारी से मुंह मोड़ना होगा।

बदलना नागरिक शास्त्र का राजनीति शास्त्र में

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 की परिकल्पना और फिर 2006 से 2008 के बीच नई पाठ्यपुस्तकों का निर्माण भारत में स्कूली शिक्षा के इतिहास का एक अनूठा अध्याय है। यहां मैं इस अलिखित इतिहास के कुछ अंशों को लिपिबद्ध करना चाहूंगा। इसलिए नहीं कि राजनीति शास्त्र की पाठ्यपुस्तकों के लिखने का अनुभव बाकी पाठ्यपुस्तकों से निराला था, बल्कि इसलिए कि इन पाठ्यपुस्तकों का पाठ इनके निर्माण के विशिष्ट संदर्भ को समझने की मांग करता है। इस संदर्भ का खुलासा करने में कुछ व्यक्तिगत प्रसंग भी आ गए हैं।

शुरुआत से ही इस प्रयोग में एक दुस्साहस का रोमांच था। जब कृष्ण कुमार जी ने एनसीईआरटी की राजनीति शास्त्र की किताबें बनाने का न्यौता दिया तो सच कहूं तो हमारी इसके लिए मानसिक तैयारी नहीं थी। मेरा एकलव्य, भोपाल के साथ स्कूली किताबें लिखने का कुछ अनुभव जरूर था, लेकिन वह बहुत पुरानी बात थी। मन में इच्छा थी कि कभी कुछ साल स्कूल में अध्यापन करूं, लेकिन वह हसरत अधूरी ही रह गई। शायद वह अधूरी हसरत रही होगी या कृष्ण कुमार जी के प्रति श्रद्धा, जिसने इस असंभव काम को हाथ

में लेने के लिए प्रेरित किया। शुरुआत में यह अहसास भी नहीं था कि यह काम कितने समय और ऊर्जा की मांग करेगा। अंततः पाठ्यपुस्तक निर्माण में लगी टीम के अनेक साथियों ने पाया कि दो वर्ष तक या इससे भी अधिक उनकी मुख्य ऊर्जा इसी काम में लगी। हम कई साथियों को अपनी अन्य अकादमिक और व्यक्तिगत प्राथमिकताओं को दरकिनार कर केवल पाठ्यपुस्तकों पर सारा ध्यान केन्द्रित करना पड़ा। एक जुनून-सा था, एक बड़े 'मिशन' में शामिल होने का अहसास था, जिसने हम सबको तमाम सीमाओं और कठिनाइयों के बावजूद कुछ सुंदर और सार्थक करने के लिए प्रेरित किया। मैं समझता हूं कि यह राजनीति शास्त्र ही नहीं अनेक विषयों की पाठ्यपुस्तक टीमों के बारे में कहा जा सकता है। आज इतने बरस बाद भी यह अहसास किसी न किसी स्तर पर कायम है। आज भी अगर अपने जीवन के दो-चार सार्थक कामों को गिनने बैठूं तो उनमें इन पाठ्यपुस्तकों का शुमार जरूर होगा।

स्कूलों में राजनीति को कैसे पढ़ाया जाए, इसे समझने की शुरुआत मैंने राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 से नहीं की। मैंने कुछ स्कूली बच्चों से बातचीत करके शुरुआत की। हर चर्चा में यह शिकायत आई कि 'सिविक्स' की किताबें बहुत 'बोरिंग' हैं। शुरू में लगा कि यह 'बोरिंग' वाली बात केवल किताबों के रंग-रूप और सज्जा के अनाकर्षक होने के बारे में थी। लेकिन धीरे-धीरे बच्चों से बात करते-करते यह समझ आया कि 'बोरिंग' शब्द दरअसल पुरानी पाठ्यपुस्तकों की बहु-आयामी विफलता का रूपक था। इन किताबों की भाषा बोझिल थी। विषयवस्तु नाहक तकनीकी और कानूनी पेचीदगी से भरी थी। इन किताबों में राजनीति की हकीकत बताने की बजाय राजनीति के अमूर्त सिद्धांतों का निरूपण था। अगर नागरिक शास्त्र की ये किताबें किसी एक विषय से परहेज करती थीं तो वह था राजनीति। पाठ्यपुस्तकें कहीं विवादास्पद न हो जाएं यह सुनिश्चित करने का एक ही तरीका था कि इन किताबों में राजनीति की बू भी नहीं आ पाए। इसलिए ये किताबें राजनैतिक व्यवहार, दैनंदिन राजनीति, अखबार में छपने वाली घटनाओं और देश-दुनिया के तमाम बड़े मुद्दों से किनारा करके चलती थीं। हैरानी नहीं कि देश में इतिहास की किताबों पर भले ही विवाद हुए हों लेकिन राजनीति शास्त्र की पुरानी किताबों पर कोई विवाद नहीं हुआ।

बच्चों से संवाद की इस प्रक्रिया में, मैं हरियाणा के पिछड़े इलाके 'मेवात' के एक सरकारी स्कूल में पहुंचा और वहां 11वीं कक्षा के बच्चों से लंबी बातचीत की। मैंने पूछा कि अगर प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति में मतभेद हो जाए तो हमारे देश में किसकी बात चलेगी। सब बच्चों की एकमत से राय थी कि राष्ट्रपति की बात चलेगी, क्योंकि राष्ट्रपति इस देश का मुखिया है। मैंने उनकी किताब पलटी। उस किताब में राष्ट्रपति की ताकतें अनेक पन्नों में गिनाई गई थीं और प्रधानमंत्री के बारे में महज एक अनुच्छेद था। मैंने बच्चों से पूछा कि राज्यसभा और लोकसभा में से किसकी शक्तियां अधिक हैं। बच्चों ने कहा कि राज्यसभा उच्च सदन है, जाहिर है कि उच्च सदन की राय ज्यादा महत्त्वपूर्ण होगी। फिर मैंने उनकी पाठ्यपुस्तक देखी। पुस्तक एकाध जगह और वह भी तकनीकी भाषा को छोड़कर कहीं भी लोकसभा के महत्त्व को रेखांकित नहीं करती थी। पाठ्यपुस्तक से बाहर निकलकर जब मैंने बच्चों से स्कूल में बिजली न होने के बारे में बातचीत की तो वह बोझिल निष्प्राण चर्चा अचानक एक जीवंत बहस में बदल गई। जिन बच्चों को राजनीति शास्त्र की पाठ्यपुस्तक की बुनियादी बातें पता नहीं थीं, वे बच्चे गांव की राजनीति के दांव-पेंच को बारीकी से समझाने लगे। तब मुझे समझ आया कि उनकी पाठ्यपुस्तकें उन्हें राजनीति से विमुख करती हैं। उनके जीवन के ज्ञान की उनकी पाठ्यचर्या में कोई जगह नहीं है। चुनौती यह थी कि उनके जीवन के ज्ञान को उनकी स्कूली शिक्षा और पाठ्यपुस्तकों से कैसे जोड़ा जाए।

इन अनुभवों के बाद मुझे राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 का दर्शन समझ आया और तब नई पाठ्यपुस्तकों को लिखने की चुनौती की गहराई भी महसूस हुई। चुनौती सिर्फ इतनी भर नहीं थी कि पिछली किताबें उबाऊ और बोझिल थीं और उन्हें सुरुचिपूर्ण बनाना था। चुनौती यह भी थी कि नागरिक शास्त्र को राजनीति शास्त्र में परिवर्तित करना था। राजनीति की औपचारिक, कानूनी और संवैधानिक भाषा को दैनंदिन राजनीति,

अखबारों की खबरों और विद्यार्थियों के जीवन के अनुभवों से जोड़ना था। यह कोई छोटी चुनौती नहीं थी। हमारी दिक्कत यह भी थी कि हमने इसकी कोई तैयारी नहीं की थी। इतिहासकारों को स्कूल की पाठ्यपुस्तकें लिखने का अनुभव था। इतिहासकारों की एक बड़ी टीम थी जो स्कूली पाठ्यपुस्तकों की चुनौती और उसकी विधा से वाकिफ थी। राजनीति शास्त्र में हमें ऐसी कोई सहूलियत नहीं थी और हम लोगों को खुद बहुत कम अनुभव था।

इसमें एक सुखद संयोग ने बहुत मदद की। कक्षा 9 से 12 तक राजनीति शास्त्र का पाठ्यक्रम (सिलेबस) और पाठ्यपुस्तक बनाने की जिम्मेवारी संयुक्त रूप से मुझे और प्रोफेसर सुहास पलशीकर को सौंपी गई। संयोग से हम दोनों को विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के लोकनीति कार्यक्रम के तहत एक साथ काम करने का एक दशक का अनुभव था। हम दोनों ने सह-लेखक के रूप में इससे पहले और इसके बाद भी कई लेख लिखे हैं। नतीजतन दोनों एक-दूसरे की विचार-प्रक्रिया और कार्यशैली से गहरे तौर पर वाकिफ थे, एक-दूसरे का सम्मान भी करते थे। सुहास भाई जानते हैं कि मुझसे कैसे काम लिया जाए, कहां मेरे अति-उत्साह पर विराम लगाना जरूरी है और कब उन्हें कमान अपने हाथ में लेनी चाहिए। लेकिन सबसे बड़ी बात यह थी कि इन पाठ्यपुस्तकों के बारे में हम दोनों की दृष्टि एक-सी थी।

हमने देश की राजनीति में विद्यमान हर प्रमुख विचार और दल को न्यायोचित जगह देने की कोशिश की। लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रति सम्मान का मतलब यह नहीं है कि उन संस्थाओं में पदासीन लोगों (मंत्रियों, सांसदों, अफसरों) को आलोचना से परे माना जाए। स्वतंत्रता का अर्थ यह भी था कि पाठ्यपुस्तकें विवाद की संभावना से डरकर किसी विषय या विचार से किनारा न करें।

इसके चलते पाठ्यपुस्तकों के लिए टीम बनाने में भी मदद मिली। हम दोनों 'मुख्य सलाहकारों' ने यह तय किया कि हमारे अलावा हर पाठ्यपुस्तक का एक 'सलाहकार' भी होगा। (इसका एकमात्र अपवाद ग्यारहवीं कक्षा की संविधान वाली पुस्तक थी, जिसमें प्रोफेसर पलशीकर ने मुख्य सलाहकार और सलाहकार की दोहरी भूमिका निभाई।) कक्षा 9 और 10 की पाठ्यपुस्तकों की जिम्मेवारी हैदराबाद विश्वविद्यालय के प्रोफेसर के. सी. सूरी ने संभाली। इन दो किताबों के अलावा भी प्रोफेसर सूरी की भूमिका अहम् थी। कक्षा 11 की पाठ्यपुस्तक 'राजनैतिक सिद्धांत' प्रोफेसर गुरप्रीत महाजन और सारा जोसेफ ने लगभग स्वतंत्र रूप से तैयार की। कक्षा 12 की 'समकालीन विश्व' के सलाहकार प्रोफेसर कांति बाजपेयी थे। कक्षा 12 की 'स्वतंत्र भारत में राजनीति' में प्रोफेसर उज्ज्वल कुमार सिंह ने यह भूमिका अदा की।

राजनीति शास्त्र के ऐसे विद्वानों को ढूंढ़ना आसान नहीं था जो पाठ्यपुस्तक लिखने की चुनौती को स्वीकार करें। हमारा ऐसे बहुत स्कूल के अध्यापकों से परिचय नहीं था, जो स्कूल की रटंतू पद्धति के बाहर जाकर एक वैकल्पिक पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकों की कल्पना के काम में जुड़ने को तैयार हों। इसलिए छह पाठ्यपुस्तकों की छह समितियां बनाना पहली चुनौती थी। एनसीईआरटी और कृष्ण कुमार जी के नाम का इतना प्रताप जरूर था कि उसके चलते देश के बड़े राजनीति शास्त्री हमारी टीम में शामिल होने को तैयार हो गए, चाहे उन्हें स्कूली पाठ्यपुस्तकें लिखने का अनुभव न रहा हो। इसमें जिन नामों का ऊपर जिक्र हुआ है, उनके साथ-साथ प्रोफेसर राजीव भार्गव, प्रताप मेहता, नीरजा जयाल, निवेदिता मेनन, सत्यपाल गौतम, पीटर डिसूजा, आदित्य निगम, संदीप शास्त्री और राजेश्वरी देशपांडे सरीखे विद्वानों ने भी इन पुस्तकों के कई अध्याय लिखे। 'स्वतंत्र भारत में राजनीति' की संवेदनशीलता को देखते हुए हमने प्रोफेसर महेश रंगराजन, रामचंद्र गुहा और सुनील खिलनानी से विशेष आग्रह किया कि वे पुस्तक के प्रारूप की समीक्षा करें। इन सब प्रयास के बावजूद कुछ खामियां रह गईं। लेखकों का चयन करते वक्त हमारे पास इतने कम विकल्प थे कि हम सामाजिक संतुलन का अतिरिक्त आग्रह नहीं कर सकते थे। नतीजतन राजनीति शास्त्र के विद्वानों की सामाजिक पृष्ठभूमि का असंतुलन हमारी टीम में भी रहा - महिला विद्वान तो थीं, लेकिन दलित, आदिवासी, मुसलमान विद्वान नहीं के बराबर थे। प्रोफेसर गोपाल गुरू को किसी बड़ी जिम्मेदारी के

लिए मुक्त रखना है। उस संदेश के चलते हम उन्हें इस टीम में शामिल नहीं कर सकते थे। हां, उस प्रयास में हम सफल जरूर हुए कि सदस्य सामाजिक संवेदनशीलता वाले हों।

इस प्रक्रिया में कुछ अनूठे स्कूल अध्यापक भी मिले। लेकिन हमारी असली खुशकिस्मती यह थी कि अलेक्स एम. जॉर्ज, मनीष जैन और पंकज पुष्कर जैसे युवा शिक्षाविदों का हमें सहयोग मिला, जिन्होंने इस असंभव चुनौती को अपना व्यक्तिगत दायित्व समझकर इसका निर्वाह करने में अथक सहयोग दिया। अगर इन तीनों का सहयोग न मिलता तो यह पाठ्यपुस्तकें ऐसी न बन पातीं या शायद बन ही न पातीं। एनसीईआरटी के नियम-कायदे में इसकी कोई गुंजाइश नहीं थी कि इन तीनों साथियों को अन्य जिम्मेवारियों से मुक्त कर केवल इस काम में जोड़ पाते। ऐसे में सीएसडीएस के लोकनीति कार्यक्रम के जरिए यह व्यवस्था हो पाई। मैं यहां इस सबका जिक्र इसलिए कर रहा हूं कि जिस प्रक्रिया से होकर यह पाठ्यपुस्तकें तैयार हुईं उसकी गहनता और जटिलता का अनुमान लग सके।

पाठ्यपुस्तक का लेखन और झूम की खेती

यहां सामूहिक लेखन की प्रक्रिया के बारे में भी दो शब्द जरूरी हैं। हर किताब की विषयवस्तु और रूपरेखा पर पूरी पाठ्यपुस्तक टीम में विस्तृत चर्चा हुई। फिर हर अध्याय का प्रारूप अलग-अलग सदस्यों ने लिखा। लेकिन प्रारूप पर चर्चा के बाद सलाहकार और मुख्य सलाहकारों को अक्सर व्यापक संशोधन करने पड़े, कई बार नए सिरे से पुनर्लेखन भी किया गया। जैसा ऊपर जिक्र हुआ है, राजनीति शास्त्र के विद्वानों को स्कूली पुस्तकें लिखने का अनुभव नहीं था। यूं भी अकादमिक भाषा में लिखने से सादी-सरल भाषा में लिखने की आदत छूट जाती है। शास्त्रीय बहसों और अलग-अलग अनुशासनों तथा विधाओं की चौहद्दियों के भूत पीछा नहीं छोड़ते। पाठ्यपुस्तक टीम की चर्चाओं में हम सबने इस बोझ से मुक्त होने की काफी कोशिश की। अधिकांश साथियों ने इस चुनौती को मन से स्वीकार किया और अपने प्रारूप में व्यापक संशोधन किए। कई विद्वानों ने किस्से-कहानियां और छवियां ढूंढ़ने में भी बहुत दिलचस्पी ली। लेकिन फिर भी हर पाठ्यपुस्तक में मुख्य सलाहकारों, सलाहकार और हमारे 'सुपर' सलाहकार अलेक्स, मनीष और पंकज की टीम को व्यापक संशोधन करने पड़े।

यह जरूरी था कि पूरी पुस्तक की भाषा और शैली में एकरूपता रहे, हर अध्याय में सभी 'एलीमेन्ट्स' का सामंजस्य हो, पाठ और छवियों में संतुलन बना रहे। शीर्षक, उपशीर्षक, परिचय और उपसंहार लिखना तथा प्रश्नावली तैयार करना भी इसी टीम का दायित्व था। नवीं और दसवीं की पुस्तकों के बारे में हमारा विशेष आग्रह था कि इनमें शास्त्रीय बोझिलता की परछाई न रहे। इसलिए इन दोनों में हमने अधिकांश प्रारूपों को दरकिनार कर नए सिरे से पूरी पाठ्यपुस्तक को लिखा। इस पुनर्लेखन के साक्षी, सहभागी और कई बार शिकार रहे प्रोफेसर सूरी ने इसकी तुलना 'झूम की खेती' की पद्धति से की थी जिसमें जंगल को भस्म कर उसकी राख को खाद की तरह इस्तेमाल कर नई फसल उगाई जाती है! लेकिन इस पुनर्लेखन में भी अपनी सामूहिकता थी। जहां तक संभव हुआ, पुनर्लेखन के बाद प्रारूप को दोबारा टीम की राय के लिए पेश किया गया।

इस बहस में बार-बार उठे 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के सवाल को इस प्रक्रिया से जोड़कर देखना जरूरी है। जाहिर है पाठ्यपुस्तक किसी एक लेखक के व्यक्तिगत विचारों की निर्बाध अभिव्यक्ति की जगह नहीं है। सामूहिक प्रक्रिया से बनी इन पाठ्यपुस्तकों में व्यक्तिगत मत की गुंजाइश नहीं थी। संपादन और पुनर्लेखन के दौरान ऐसे अंशों का संपादन अनिवार्य था। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि पाठ्यपुस्तक में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मुद्दा बेमानी है। सामूहिक लेखन की प्रक्रिया से बनी इन पाठ्यपुस्तकों के संदर्भ में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मतलब है सामूहिक निर्णय और लेखन-संपादन-पुनर्लेखन की प्रक्रियाओं में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दबाव से मुक्ति। पाठ्यपुस्तक टीम के गठन के बारे में ऊपर काफी-कुछ कहा गया है।

राजनीति शास्त्र के दायरे में उपलब्ध विद्वानों में किसी या किन्हीं को मत-भिन्नता के आधार पर हमने बाहर नहीं रखा। जहां तक सामूहिक निर्णय प्रक्रिया का संबंध है, शायद हमारे साथी बेहतर बता सकेंगे। संभव है कि समय सीमा की कड़ी बंदिश के भीतर एक नई तरह की पाठ्यपुस्तकें तैयार करने की इस कोशिश में सामूहिकता की आदर्श मर्यादाओं की कसौटी पर हम खरे न उतरे हों। लेकिन इतना जरूर कह सकता हूं कि मत-भिन्नता के कारण किसी विचार को अनसुना नहीं किया गया।

राजनीति शास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में सबसे बड़ा सवाल प्रत्यक्ष या परोक्ष राजनैतिक दबाव का था। यह जिम्मेवारी स्वीकार करने से पहले हमने कृष्ण कुमार जी से प्रत्यक्ष दबाव से मुक्ति का आश्वासन मांगा था। उन्होंने न सिर्फ प्रोफेसर पलशीकर और मुझे यह व्यक्तिगत आश्वासन दिया बल्कि इसे पूरी पाठ्यपुस्तक टीम की बैठक में दोहराया। और जब अपने वादे को निभाने का समय आया तो उनकी तरफ से कभी कोई कमजोरी नहीं दिखी। खासतौर पर 'स्वतंत्र भारत में राजनीति' की तैयारी के दौरान ऐसे अनेक अतिसंवेदनशील मुद्दे उठे जो इस किताब ही नहीं, पूरी प्रक्रिया और स्वयं निदेशक पर तलवार की तरह लटके रहे। यह चिंता हम समझते थे, उनके चेहरे पर पढ़ सकते थे, लेकिन एक बार भी कृष्ण कुमार जी ने इस चिंता का बोझ हम पर नहीं थोपा।

जाहिर है, यह केवल एक बुद्धिजीवी का व्यक्तिगत साहस नहीं था। उनकी इस असाधारण उदारता को तत्कालीन शिक्षा सचिव सुदीप बैनर्जी और स्वयं अर्जुन सिंह जी का सीधा समर्थन हासिल था। फिर भी अगर इन किताबों पर विवाद कृष्ण कुमार के निदेशक रहते हुआ होता तो तय था कि गाज उन्हीं पर गिरती। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए किसी को तो जोखिम उठाना ही पड़ता है। इस संदर्भ में अगर कृष्ण कुमार यह जोखिम न उठाते तो इन पाठ्यपुस्तकों में हुए अनेक प्रयोग संभव नहीं थे।

इस अभूतपूर्व स्वतंत्रता के चलते पाठ्यपुस्तक के लेखक और सलाहकार सत्ता-निरपेक्ष रह पाए। सरकार या सत्ता पक्ष की तरफ से सीधे दबाव या सुझाव का तो सवाल ही नहीं था। बल्कि हमारी यह कोशिश रही कि इन पाठ्यपुस्तकों में इसकी झलक न आने पाए कि उस वक्त कौन सत्ता में था। हमने देश की राजनीति में विद्यमान हर प्रमुख विचार और दल को न्यायोचित जगह देने की कोशिश की। लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रति सम्मान का मतलब यह नहीं है कि उन संस्थाओं में पदासीन लोगों (मंत्रियों, सांसदों, अफसरों) को आलोचना से परे माना जाए। स्वतंत्रता का अर्थ यह भी था कि पाठ्यपुस्तकें विवाद की संभावना से डरकर किसी विषय या विचार से किनारा न करें।

राजनीति शास्त्र का पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें कैसी हों, यह तय करते वक्त हमने कुछ बुनियादी फैसले लिए। पहला फैसला तो यह था कि इसे नागरिक शास्त्र की बजाय राजनीति शास्त्र कहें। यह पाठ्यपुस्तक के नजरिए में बुनियादी बदलाव का संकेत था। ये पुस्तकें नन्हे बच्चों को अच्छे नागरिक बनने का उपदेश नहीं देंगी और राजनीति से किनारा नहीं करेंगी। इसका मतलब यह नहीं कि ये पुस्तकें राजनीति के दंगल में किसी एक पक्ष के साथ खड़ी होंगी। असली चुनौती यह थी कि राजनीति से परहेज किए बिना राजनीति के बारे में संतुलित और निष्पक्ष तरीके से कैसे लिखा जाए। नागरिक शास्त्र के बजाय राजनीति शास्त्र कहकर हमने इस जिम्मेवारी को कुबूल किया।

कसौटी क्या हो?

इस संदर्भ में 'निष्पक्ष' का अर्थ विचारधारा निरपेक्ष नहीं हो सकता। इन किताबों का हर सजग पाठक यह लक्ष्य करेगा कि यह पाठ्यपुस्तकें विचारधारा-मुक्त नहीं हैं। पिछले कुछ दशकों में हमारे लोकतंत्र का मिजाज बदला है। विविधता, समता और क्षेत्रीयता में रचे-बसे राष्ट्रवाद के स्वर बुलंद हुए हैं। साथ ही हमारे समाज शास्त्र का रुझान भी पलटा है। हाशियाग्रस्त समुदायों के प्रति ध्यान बढ़ा है, स्थापित विचारधाराओं में आस्था

घटी है और भारतीय आधुनिकता की विशिष्टता को समझने का आग्रह मजबूत हुआ है। जाहिर है यह सब वैचारिक रुझान इन पाठ्यपुस्तकों में भी दिखाई देंगे। संभव है कि एक स्थूल किस्म की वैचारिक प्रतिबद्धता की तलाश करने वाले को इन पाठ्यपुस्तकों में किसी किस्म के समाजवाद, नारीवाद या अंबेडकरवाद आदि की झलक दिखे।

लेकिन इन पाठ्यपुस्तकों को ध्यान से पढ़ने पर ऐसी गलतफहमी दूर होगी। कम से कम हमारी यह कोशिश थी कि यह पाठ्यपुस्तकें वैचारिक प्रतिबद्धता की पुरानी बहसों से आगे बढ़ें। वैचारिक रुझान से जुड़े हर सवाल को हमने दो कसौटियों पर कसा। भारतीय संविधान की विचारधारा हमारे लिए प्रमुख कसौटी थी। हमारा संविधान विचारधारा निरपेक्ष नहीं है। व्यक्तिगत और सामुदायिक स्वतंत्रता, विविधता, समता और सामाजिक न्याय के संवैधानिक आदर्श इन पाठ्यपुस्तकों की विचारधारा के आधार थे। दूसरी कसौटी थी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 का शिक्षा दर्शन। इस दृष्टि के अनुसार पाठ्यपुस्तक का काम किसी विचारधारा विशेष की घुट्टी पिलाना नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिक बनाना है, जो तमाम विचारधाराओं को अपने अनुभव और तर्क की कसौटी पर कसने में सक्षम हों।

भारतीय संविधान की विचारधारा हमारे लिए प्रमुख कसौटी थी। हमारा संविधान विचारधारा निरपेक्ष नहीं है। व्यक्तिगत और सामुदायिक स्वतंत्रता, विविधता, समता और सामाजिक न्याय के संवैधानिक आदर्श इन पाठ्यपुस्तकों की विचारधारा के आधार थे। दूसरी कसौटी थी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 का शिक्षा दर्शन। इस दृष्टि के अनुसार पाठ्यपुस्तक का काम किसी विचारधारा विशेष की घुट्टी पिलाना नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिक बनाना है, जो तमाम विचारधाराओं को अपने अनुभव और तर्क की कसौटी पर कसने में सक्षम हों।

दूसरा फैसला इससे जुड़ा हुआ था। राजनीति शास्त्र की इन नई किताबों में राजनीति की औपचारिक संस्थाओं का जिक्र होगा, संविधान और कानून के जरूरी प्रावधानों से विद्यार्थी का परिचय करवाया जाएगा। लेकिन राजनीति शास्त्र केवल इस औपचारिकता तक सीमित नहीं रहेगा। कानून और संविधान का परिचय देते वक्त यह ख्याल रखा जाएगा कि औपचारिक सूचनाओं का बोझ विद्यार्थी के सिर पर न लादा जाए। कानूनी पेचीदगियां उतनी ही समझाई जाएं जितनी उस स्तर के विद्यार्थी के लिए जरूरी हों। हर कानूनी संवैधानिक प्रावधान का मूल उद्देश्य और उसके वास्तविक जीवन पर पड़ने वाले असर पर ज्यादा ध्यान दिया जाए, केवल प्रावधान की औपचारिक शक्तियां गिनाने के बजाय उन संस्थाओं की वास्तविक कार्य प्रणाली पर ज्यादा ध्यान दिया जाए। मसलन, पुरानी किताबों में भारत के राष्ट्रपति के चुनाव की बेहद जटिल प्रक्रिया को विस्तार से बताया जाता था और उस पर इम्तिहान में सवाल पूछे जाते थे। हमारी राय थी कि यह स्कूल के विद्यार्थी के लिए एक गैर-जरूरी सूचना थी, इसलिए पाठ्यपुस्तक में एकल हस्तांतरणीय आनुपातिक मत की इस जटिल प्रणाली को समझाने के बजाय सिर्फ संकेत स्वरूप इतना जिक्र है कि देश भर के सांसद और विधायक मिलकर भारत के राष्ट्रपति को चुनते हैं। संसद किसी विधेयक का किन-किन चरणों में पाठ करती है, इसकी तफसील विद्यार्थियों को रटवाने के बजाय यह ब्यौरा दिया गया है कि किसी एक दिन में लोकसभा में किन-किन मुद्दों पर सचमुच चर्चा हुई।

तीसरा बड़ा फैसला था कि राजनैतिक प्रक्रिया का अमूर्त चित्रण करने के बजाय वास्तविक राजनीति के उदाहरणों और इतिहास की घटनाओं के माध्यम से राजनीति का निरूपण किया जाए। मसलन, कक्षा 9 की पुस्तक 'लोकतांत्रिक राजनीति' पहले अध्याय में लोकतंत्र की परिभाषा नहीं देती। लोकतंत्र के गुण-दोष की फेहरिस्त नहीं बताती। यह किताब चिले में अयन्दे की सरकार का तख्ता पलट करने की कहानी से शुरू होती है, ताकि भारत के विद्यार्थी समझ पाएं कि लोकतंत्र को खोने का मतलब क्या होता है। कहानी आगे बढ़ती है, पाठक को पोलैण्ड ले जाती है, जहां 'सोलिडैरिटी' आंदोलन कम्युनिस्ट पार्टी के अधिनायक तंत्र के विरुद्ध संघर्ष कर लोकतंत्र की लड़ाई जीतता है। और दुनिया के तमाम कोनों से ली गई

इस तरह की मिसालों के माध्यम से अगले अध्याय में बच्चे से पूछा जाता है कि लोकतंत्र क्या है? वहां भी सीधे-सीधे परिभाषा थमाने के बजाय पुस्तक बच्चे को मेघालय के एक काल्पनिक स्कूल की कक्षा में ले जाती है, जहां विद्यार्थी अपनी अध्यापिका श्रीमती लिंगदोह के साथ बहस में उलझे हैं। (यह कक्षा किस प्रदेश में हो, अध्यापक कौन हो और विद्यार्थियों के नाम क्या हों - इन सब पर काफी सोच-विचार हुआ था।) उस बहस के माध्यम से लोकतंत्र का अर्थ और उसके गुण-दोष उजागर होते हैं। देश की सरकार कैसे चलती है, इसे समझाने के लिए कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका जैसी अमूर्त धारणाओं से शुरुआत नहीं की जाती। शुरुआत होती है मंडल कमीशन के विवाद से। सड़क का एक विवाद आंदोलन, चुनाव, संसद और कोर्ट-कचहरी से होते हुए आखिर एक सरकारी आदेश की शक्ल कैसे लेता है, इस मिसाल के माध्यम से सरकार के अलग-अलग अंगों के कामकाज और उनकी अंतर-निर्भरता की व्याख्या होती है।

चौथा निर्णय किताब के स्वरूप के बारे में था। हम केवल शब्दों से भरी किताब नहीं बनाना चाहते थे, जिसमें जगह भरने के लिए कुछ बेमानी और अप्रासंगिक फोटो चस्पा हों। यह तो साफ था कि पुस्तक में पाठ (टैक्स्ट) के अलावा अन्य कई चीजें (एलिमेंट्स) होंगी। वे चीजें क्या होंगी और उनका उपयोग हम कैसे करेंगे, यह धीरे-धीरे समझ में आया। पुस्तक में कुछ फोटो का प्रयोग किया गया है, लेकिन जल्द ही हमें समझ आया कि अच्छे फोटो को प्राप्त करना और उन्हें अच्छे तरीके से छापना एनसीईआरटी के लिए काफी कठिन काम था। इसलिए इन किताबों में फोटो का इस्तेमाल बहुत ज्यादा नहीं हो पाया। कार्टून राजनीति शास्त्र की किताबों के लिए एक स्वभाविक चीज (एलिमेंट) था। हमने दूसरे देशों की पाठ्यपुस्तकें देखी थीं, जिनमें कार्टूनों का प्रयोग किया गया था। यूं भी हमारे देश में राजनैतिक कार्टून की इतनी भव्य परंपरा है, यहां राजनीति की किताबें कार्टूनों का इस्तेमाल न करें, यह बहुत अटपटी बात थी। इसलिए इन किताबों में भारतीय और गैर-भारतीय कार्टूनों का खुलकर प्रयोग किया गया है।

कार्टून के कोण से

पिछले दिनों में इन कार्टूनों पर बहुत गहन चर्चा हुई है, इसलिए यहां कुछ बातें स्पष्ट करना जरूरी है। कार्टून मनोरंजन करते हैं, गुदगुदाते हैं और पाठ को सरस बनाते हैं। लेकिन इन पाठ्यपुस्तकों में कार्टून सिर्फ इस वजह से नहीं रखे गए हैं। कार्टून व्यंग्य करते हैं, तंज करते हैं, चौंकाते हैं, हैरान करते हैं, परेशान करते हैं, कौंचते हैं। पुरानी पाठ्यपुस्तकों को इन सबसे परहेज था। लेकिन हम चाहते थे कि हमारी पाठ्यपुस्तकें सिर्फ सूचना न दें, सिर्फ गुदगुदाएं ना, बल्कि विद्यार्थियों को अप्रिय प्रश्न पूछने का अवसर दें। एक अच्छा कार्टून वह सब कह देता है, जिसे आप हजार शब्दों में नहीं कह सकते। प्रधानमंत्री का मंत्रिमंडल में क्या दर्जा है और वह पिछले पचास साल में कैसे बदला है, उसे शब्दों में बयान करेंगे तो आपको लंबी कहानी लिखनी पड़ेगी। लेकिन आर. के. लक्ष्मण का एक कार्टून दिखाएंगे जिसमें इंदिरा गांधी छाई हुई हैं और अन्य मंत्री दुबके हुए हैं, तो वह इतना कुछ सिखाएगा जो कोई अमूर्त पाठ कभी नहीं कह सकता। अक्सर इन पाठ्यपुस्तकों में हर कार्टून के साथ एक टिप्पणी दी गई है, जो उस कार्टून को पाठ से जोड़ती है, पाठ और कार्टून में आवाजाही का संबंध स्थापित करती है।

यहां यह दर्ज करना जरूरी है कि कार्टून रेखाचित्र के माध्यम से पाठ की अभिव्यक्ति नहीं करता है। अक्सर पाठ और कार्टून में एक तनाव का संबंध है। यह तनाव अनायास नहीं है। अक्सर यह तनाव जानबूझ कर पैदा किया गया है। अक्सर कार्टून विद्यार्थियों को पाठ में प्रस्तुत 'संतुलित' दृष्टि से अलग एक विशिष्ट कोण से देखने को आमंत्रित करते हैं। प्रयास यह है कि पाठ्यपुस्तक के नजरिये का शिकंजा कुछ ढीला हो, विद्यार्थी की सोच उन्मुक्त रहे। कार्टून का हास्य सिर्फ मखौल नहीं है, उसका एक शैक्षणिक उद्देश्य है। 'महापुरुषों' और शीर्ष राजनीति के बड़े लोगों को महज एक इंसान और हास्य के पात्र के रूप में देख सकना सत्ता के प्रति श्रद्धाभाव को डिगाता है। लोकतांत्रिक मानस तैयार करता है। शीर्ष राजनीति की उच्च संस्थाओं और

बड़े-बड़े लोगों के बीच घटित होने वाली राजनीति को धरातल पर उतारने में कार्टून की सानी नहीं है।

हां, कभी-कभार कार्टून का इस्तेमाल इशारतन कुछ ऐसी बातें कहने के लिए भी किया गया है, जिन्हें पाठ में कहना कठिन था या जिनका खुलासा करना कष्टप्रद हो सकता था। लेकिन ऐसा कभी-कभी ही हुआ है। ऐसा शायद 'स्वतंत्र भारत में राजनीति' वाली पुस्तक में कुछ जगह किया गया हो। लेकिन यह कार्टून के प्रयोग का मुख्य उद्देश्य नहीं था।

किसी कार्टून या चित्र को खारिज करने का आधार यह होना चाहिए कि उसके अनेक अर्थों में जो सबसे सहज और जाहिर अर्थ हैं, क्या वे किसी की वंचना का कारण बन सकते हैं? ...ऐसी किसी संभावना मात्र के आधार पर चित्रों और कार्टूनों को खारिज करना हमें ऐसी दिशा में ले जाएगा, जहां हम शिक्षा के उद्देश्यों से बहुत दूर चले जाएंगे। यदि हम इतनी बारीकी से हर चित्र को देखें, जैसा कि कुछ आलोचकों ने पिछले कुछ सप्ताह में किया है तो क्या ऐसे चित्र, कार्टून या फोटो बचेंगे जो किसी भी व्यक्ति के मन में कभी भी कोई नकारात्मक भाव पैदा न कर सकेंगे और अगर ऐसे चित्र, फोटो और कार्टून मिल भी जाएं तो क्या वे छापने लायक होंगे।

कार्टूनों के बारे में इतनी चर्चा हो गई है कि इस किताब में इस्तेमाल की गई अन्य विधाओं पर लोगों का ध्यान नहीं गया है। इन किताबों ने फिल्मों का इस्तेमाल किया है। 'स्वतंत्र भारत में राजनीति' पुस्तक के हर अध्याय में एक फिल्म सुझाई गई है और उसके माध्यम से इतिहास के उस दौर को समझाने की कोशिश की गई है। विभाजन के बाद के दौर को समझने के लिए 'गर्म हवा' देखने की सिफारिश की गई है। आपातकाल को समझने के लिए 'हजारों ख्वाहिशें ऐसी' फिल्म सुझाई गई है। राजनीति को समझने के लिए फिल्मों के इस्तेमाल पर अभी काफी लोगों की निगाह नहीं गई है।

इन पुस्तकों में एक और प्रयोग किया गया है। हमें जरूरत थी कि पाठ्यपुस्तक 'आधिकारिक ज्ञान' का अंतिम स्रोत होने का बोझा न ढोएं। इसलिए जरूरी था कि इन पुस्तकों में कुछ ऐसा हो जो स्वयं इसके ज्ञान पर सवालिया निशान लगाए, जो विद्यार्थी के मन में आने वाले सहज-सरल सवालों को अभिव्यक्त करे। विद्यार्थी को लगे कि हां, यह सवाल तो मेरे मन में भी उठा था पर मुझे पूछने की हिम्मत नहीं हो रही थी। 'कहीं मेरा सवाल फिजूल तो नहीं लगेगा, कहीं मैं बुद्धू तो नहीं कहलाऊंगा?' इस भाव से विद्यार्थी मुक्त हो सके। इसके लिए हमने दो पात्र गढ़े- उन्नी और मुन्नी। इनके नाम, पोशाक और भाव-भंगिमा पर भी काफी सोचा गया। नाम में उत्तर और दक्षिण का समन्वय हुआ। उन्नी को टाई पहनाने में इरफान अंततः कामयाब हुए! मुन्नी पढ़ाकू बनी, लेकिन केवल 'कन्या-सुलभ' भाव भंगिमा में नहीं बंधी! इन सभी छह पुस्तकों में उन्नी और मुन्नी हर एक-दो पन्ने के बाद आते हैं- कुछ चुलबुला, कुछ बेवकूफाना, कुछ तीखा और अबूझा-सा सवाल लिए। कुछ जगह तो उन्नी और मुन्नी पाठ्यपुस्तक लिखने वालों को लताड़ते भी हैं। हमारी कोशिश यह थी कि इस प्रयोग के माध्यम से पाठ्यपुस्तक की नीरसता और बोझिलता तो कम हो ही, साथ ही विद्यार्थी में सवाल पूछने की हिम्मत बढ़े और पाठ्यपुस्तक को ब्रह्म-वाक्य मानने के संस्कार को मजबूत न किया जाए।

किताबी ज्ञान को विद्यार्थी के जीवन से जोड़ने के लिए कई प्रयोग किए गए। कक्षा 9 और 10 की किताबें विद्यार्थियों को अखबार पढ़ने के लिए आमंत्रित करती हैं, हर अध्याय की विषयवस्तु को खबरों से जोड़ती है। कक्षा 11 की संविधान वाली पुस्तक विद्यार्थियों को एक 'केस' के तथ्य बताकर उन्हें फैसला सुनाने की जिम्मेदारी देती है। कक्षा 12 की पुस्तक उन्हें स्वतंत्र भारत के इतिहास के अपने परिवार, मुहल्ले या इलाके के इतिहास से जोड़ने वाले सूत्र खोजने का सुझाव देती है।

यानी ये पाठ्यपुस्तकें एक ही बार में बहुत लम्बी छलांग लगाने की कोशिश थी। बहुत पुराने ढर्रे की उबाऊ, संकुचित, औपचारिक किताबों की कायापलट कर एक ही बार में विषयवस्तु और स्वरूप दोनों बदलने का महत्त्वाकांक्षी प्रयास था। इस महत्त्वाकांक्षा के बरक्स हमारी तैयारी कमजोर थी, संसाधन सीमित थे और समय

बहुत थोड़ा था। इन सब सीमाओं को ध्यान में रखते हुए उदारमन से मूल्यांकन किया जाए तो इस प्रयोग को कुछ हद तक सफल करार दिया जा सकता है। कम से कम इस अर्थ में तो सफलता मिली ही कि यह प्रयोग पूरा हो सका, किताबें समय पर बनीं, छपीं और विद्यार्थियों तक पहुंचीं और व्यवस्था का हिस्सा बन गईं। शायद कुछ हद तक इन किताबों ने नागरिक शास्त्र की पाठ्यपुस्तकों के बने-बनाए ढर्रे को हिलाया-डुलाया भी है। कल अगर ये किताबें न भी रहीं (पाठ्यपुस्तकें बनाते वक्त हम लगातार इस संभावना के साथ जी रहे थे) तो भी शायद पुराने ढर्रे की नागरिक शास्त्र की नीरस पाठ्यपुस्तकों को वापिस लाना आसान नहीं होगा।

लेकिन इस प्रयोग को कुछ कड़ाई और ईमानदारी से जांचने से कदम-कदम पर कमजोरियां और अधूरापन दिखाई देता है। विषयवस्तु के लिहाज से 11वीं की 'राजनैतिक सिद्धांत' वाली पुस्तक सिद्धांत और उसकी व्याख्या के पुराने तौर-तरीके से बहुत अलग नहीं है। अवधारणाओं और चिंतकों की जगह हमारी अपनी धूल-मिट्टी में रची-बसी बहसों के माध्यम से राजनैतिक दर्शन पढ़ाने-सिखाने का प्रयोग हम नहीं कर पाए। 'समकालीन विश्व राजनीति' की विषयवस्तु में भी काफी कमजोरी रह गई। कुल मिलाकर 11वीं और 12वीं में विद्यार्थी को राजनीति शास्त्र का परिचय देते वक्त स्थापित शास्त्र की सीमाओं से मुक्त होने के प्रयास में आंशिक सफलता ही मिल पाई। पाठ्यपुस्तक के स्वरूप में बदलाव की हमारी कोशिशों के परिणाम और उसकी सीमाएं दोनों ज्यादा साफ हैं। छवियों, कार्टूनों आदि के चयन और संयोजन दोनों में नौसिखियापन झलकता है। प्रश्नावली के जरिए परीक्षा पद्धति पर असर डालने का प्रयास भी ज्यादा सफल नहीं रहा। कुल मिलाकर एक सांचा जरूर बन गया, लेकिन उस सांचे में ढली सामग्री को गढ़ने के अनुभव, समय और कौशल की कमी रही। शायद इससे पहले की पाठ्यपुस्तकों की स्थिति कुछ ऐसी थी कि कुल मिलाकर हमारे प्रयोग को बहुत सराहा गया।

वह जो शेष रहेगा

पिछले पांच-छह साल में हमें इन किताबों के बारे में कोई तीन सौ चिट्ठियां मिली हैं (हमने इन किताबों में अपनी प्रतिक्रियाएं भेजने के लिए एक ईमेल पता दिया था। उसके जरिए यह प्रतिक्रियाएं आईं। इन्हें समाज के सभी तबकों के प्रतिनिधित्व करने वाली प्रतिक्रिया नहीं माना जा सकता। लेकिन फिर भी प्रतिक्रियाएं विद्यार्थियों की थीं और मन से लिखी गई थीं।) औसतन हर सप्ताह आने वाली इन एक-दो चिट्ठियों से मन जरूर बहल जाता था, विश्वास बनता था कि शायद हमने जीवन के दो साल जाया नहीं किए। कई विद्यार्थियों ने लिखा कि उन्हें जीवन में पहली बार राजनीति और राजनीति शास्त्र में रुचि जगी। विद्यार्थियों ने किताब की कई चीजों का विशेष जिक्र किया, खासतौर से कार्टून और उन्नी-मुन्नी का। मुझे ख्याल नहीं पड़ता कि किसी एक भी विद्यार्थी ने कार्टूनों पर एतराज जताया हो या ऐसा कुछ लिखा हो जिससे हमें लगा कि कार्टून उनके कोमल मन पर बुरा असर डाल रहे हैं। कुल मिलाकर विद्यार्थियों की प्रतिक्रियाओं से संतोष ही हुआ।

यहां इस सच को दर्ज करना जरूरी है कि अध्यापकों से उतनी प्रतिक्रियाएं नहीं मिल पाईं, जितनी हमें उम्मीद थी। अध्यापकों से जब भी बात हुई तो अमूमन उनकी चिंता या तो नई पुस्तकों के बोझ के बारे में थी या फिर सीबीएससी के इम्तिहान के बारे में। अध्यापक अक्सर यही पूछते थे कि फलां अध्याय का फलां हिस्सा इम्तिहान में आएगा या नहीं, और आएगा तो उसमें कितने नम्बर का सवाल आ सकता है। या फिर यह शिकायत कि नई किताबें आने से उन्हें नए सिरे से पढ़ना पड़ेगा। खासतौर पर अन्य देशों की राजनीति का परिचय देने में उन्हें पेरशानी थी। ऐसी बातें सुनकर मायूसी होती थी, लेकिन विद्यार्थियों की चिट्ठियों से संतोष होता था। इन किताबों को बनाते वक्त हमें इसका अनुमान था कि इनकी आलोचना होगी। यह अंदेशा था कि किसी भी दिन संसद में किसी भी चीज को उठाकर इन्हें उधेड़ने की प्रक्रिया शुरू हो सकती है। इस संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता था कि अगर सरकार बदली तो पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा भी

शुरू हो सकती है। हमने किताबें बनाते वक्त इसका बेहद ख्याल रखा कि किसी पक्ष को ऐसा न लगे कि इन किताबों पर किसी एक पार्टी या किसी एक निजाम की छाया है। अब तक हुई तमाम आलोचनाओं के बावजूद यह आरोप इन किताबों पर नहीं लगा है। प्रयास यह भी था कि चाहे किताबों में बाद में कुछ संशोधन हो जाएं लेकिन कम से कम किताबों का यह स्वरूप अपरिवर्तनीय हो जाए। यानी, उसकी विषयवस्तु में थोड़ा-बहुत बदलाव भले हो जाएं, लेकिन कम से कम पुराने ढर्रे की, पुराने अंदाज की पाठ्यपुस्तकों को दोबारा लादना संभव न हो। कम से कम यह न्यूनतम मान्यता बन जाए कि अब अगर राजनीति शास्त्र की किताबें बनेंगी तो वे कुछ ऐसी ही दिखेंगी। पिछले कुछ दिनों की बहस से कभी-कभार अंदेशा हुआ है कि शायद यह न्यूनतम अपेक्षा भी खतरे में है। लेकिन कहीं न कहीं मुझे आज भी उम्मीद है कि पांच-छह साल तक स्कूलों में टिकने के बाद इन पाठ्यपुस्तकों ने इतनी जगह जरूर बना ली है कि अब पुराने अंदाज की पाठ्यपुस्तकों को वापस लाना संभव नहीं हो पाएगा।

जाहिर है, इन पाठ्यपुस्तकों में संशोधन की बहुत गुंजाइश है। इन पाठ्यपुस्तकों को बनाते वक्त हमें अपनी और इन पाठ्यपुस्तकों की सीमाओं का अहसास बार-बार होता था। इन पाठ्यपुस्तकों को नवीनतम जानकारी की रौशनी में संशोधित करने की जरूरत है। जाहिर है, इनमें कई त्रुटियां और कमियां छूट गई हैं, जिन्हें सुधारने की जरूरत है। किताबें बनाते वक्त और आज भी हमारी यही उम्मीद थी कि हमसे बाद की पीढ़ी के राजनीति शास्त्री राजनीति की विषयवस्तु और शिक्षा की गहरी समझ का हमसे बेहतर समावेश कर पाएंगे। आज से दस-पंद्रह साल बाद अलेक्स एम. जॉर्ज, पंकज पुष्कर और मनीष जैन की पीढ़ी ऐसी किताबें लिख पाएगी जिनके सामने हमारा यह प्रयास बहुत हल्का दिखाई देगा।

अनपढ़ अर्थ के खतरे

पाठ्यपुस्तकों को उनके अपने संदर्भ में समझने और जांचने के बाद हम उस नए संदर्भ को देख-समझ सकते हैं, जिसमें आज इन पर बहस हुई है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 एक नीति के बतौर स्वीकार जरूर हो गई थी। लेकिन राष्ट्रीय मानस में यह विचार अभी भी स्थापित नहीं हो पाया है। यह विसंगति इन पाठ्यपुस्तकों पर हुई राष्ट्रीय बहस के पहले दौर पर हावी रही है। पहले दौर की यह बहस इन किताबों को आगे ले जाने की बजाय इन्हें पीछे घसीटने वाली रही है। हर बहस में लगभग यह जिद रही है कि किताब को बिना पढ़े उसका मूल्यांकन होगा। संसद के भीतर और संसद के बाहर कुछ ऐसी बहसें हुई हैं, मानो ये किताबें कार्टूनों की किताबें हैं। किताबों को उनकी समग्रता में देखने की बजाय किसी एक टुकड़े को लेकर बहसें हुई हैं। विडम्बना यह है कि इन किताबों ने जिन आवाजों को पहली बार जगह दी, ठीक वहीं से इनके खिलाफ हमला हुआ है। ये किताबें जिस दर्शन के तहत लिखी गई, उसे नजरअंदाज कर ठीक उसी पुराने फ्रेम में देखा गया है, जिसमें पाठ्यपुस्तक में छपा हर वाक्य ब्रह्म वाक्य होता है। जिसमें पाठ्यपुस्तक की हर तस्वीर पर सरकारी ठप्पा लगा होता है। पाठ्यपुस्तकों पर यह आरोप लगा है कि वे संदेह को जन्म देती हैं कि वे बच्चे मन में प्रश्न पैदा करती हैं। इस सबसे जाहिर होता है कि इन पाठ्यपुस्तकों को समझने और इनसे आगे बढ़ने की क्षमता विकसित करने में अभी हमें काफी और वक्त लगेगा।

मुझे व्यक्तिगत रूप से सबसे अधिक पीड़ा डॉ. अंबेडकर वाले कार्टून को लेकर हुए विवाद से हुई। अगर आप दो महीने पहले मुझसे पूछते कि इन किताबों में क्या-क्या विवादास्पद है या विवादास्पद हो सकता है तो उस लम्बी फेहरिस्त में भी कहीं यह कार्टून नहीं ठहरता। मेरे मन में यह कार्टून न डॉ. अंबेडकर के बारे में है, न जवाहर लाल नेहरू के बारे में है। यह कार्टून संविधान रूपी घोंघे के बारे में है। मेरे मन में यह कार्टून यह सवाल नहीं जगाता कि संविधान बनने में इतनी देरी क्यों हुई। मेरे मन में यह कार्टून एक अलग किस्म का कौतूहल पैदा करता है। जब दुनिया भर में संविधान बनाने में दो-तीन-चार साल लगते हैं, तो आखिर हमारे देश में इसको लेकर इतनी बेसब्री क्यों थी? मेरे मन में यह कार्टून एक अलग किस्म की समझ पैदा करता

है, वह यह कि इतिहास के महत्त्वपूर्ण दौर से गुजरते वक्त कई बार वह पीढ़ी उन प्रक्रियाओं और घटनाओं का ऐतिहासिक महत्त्व नहीं समझ सकती। इस कार्टून में मुझे खुद उन घटनाओं और प्रक्रियाओं को दूरी से देखने की क्षमता दी, जिससे आज हम गुजर रहे हैं।

इस कार्टून को बहुत स्थूल तरीके से देखा गया। पहले तो यह दुष्प्रचार किया गया कि इसमें नेहरू अंबेडकर पर कोड़ा बरसा रहे हैं। बाद में जब इसका ध्यान दिलाया गया कि कोड़ा तो अंबेडकर के हाथ में भी है और नेहरू के हाथ में भी है और शायद दोनों घोंघे पर कोड़ा बरसा रहे हैं तो कुछ सूक्ष्म पाठ आने शुरू हुए। आलोचकों ने इसकी ओर ध्यान दिलाया कि नेहरू और अंबेडकर की मुद्रा एक जैसी नहीं है। यह भी ध्यान दिलाया कि कोड़े का प्रतीक अपने-आपमें वर्चस्ववाद का प्रतीक हो सकता है। यह भी कहा गया कि यह कार्टून एक जातिवादी शिक्षक की कक्षा में दलित बच्चों की प्रवंचना का बहाना बन सकता है।

इन आलोचनाओं से मैंने बहुत कुछ सीखा है। कार्टूनों को समझने की मेरी दृष्टि पहले से कुछ सुधरी है। इसमें कोई शक नहीं कि कोई तस्वीर अनेकार्थी हो सकती है। दरअसल, इसीलिए तस्वीरों का इस्तेमाल होता है और इसमें संदेह नहीं है कि इन अनेक अर्थों में एक अर्थ ऐसा हो सकता है जो किसी परिस्थिति विशेष में दलित विद्यार्थियों के लिए असमंजस या अपमान का आधार बन सके। हमें अब तक किसी विद्यार्थी या अध्यापक से कोई शिकायत नहीं मिली। यह कार्टून जब छपा तब ऐसी आपत्ति नहीं हुई। किताबों के खिलाफ अभियान की शुरुआत किसी कक्षा के अनुभव से नहीं हुई। लेकिन यह सब तर्क पर्याप्त नहीं हैं। ये तर्क इस हकीकत को नहीं नकार सकते कि किसी कक्षा विशेष में किसी परिस्थिति में ऐसा कार्टून किसी दलित छात्र को आहत कर सकता है। पाठ्यपुस्तकों को संवेदनशील होना चाहिए, खासतौर पर समाज के उस वर्ग के लिए जो वंचित रहा है, जो उपेक्षित रहा है, जो शोषित रहा है। सवाल यह है कि एक बहुलार्थी चित्र को क्या इस आधार पर खारिज किया जा सकता है कि उसके अनेक अर्थों में से एक अर्थ ऐसा भी हो सकता है? किसी कार्टून या चित्र को खारिज करने का आधार यह होना चाहिए कि उसके अनेक अर्थों में जो सबसे सहज और जाहिर अर्थ हैं, क्या वे किसी की वंचना का कारण बन सकते हैं? यदि ऐसा है तो निश्चित ही ऐसे कार्टून और चित्र को छोड़ना चाहिए। ऐसी किसी संभावना मात्र के आधार पर चित्रों और कार्टूनों को खारिज करना हमें ऐसी दिशा में ले जाएगा, जहां हम शिक्षा के उद्देश्यों से बहुत दूर चले जाएंगे। यदि हम इतनी बारीकी से हर चित्र को देखें, जैसा कि कुछ आलोचकों ने पिछले कुछ सप्ताह में किया है तो क्या ऐसे चित्र, कार्टून या फोटो बचेंगे जो किसी भी व्यक्ति के मन में कभी भी कोई नकारात्मक भाव पैदा न कर सकेंगे और अगर ऐसे चित्र, फोटो और कार्टून मिल भी जाएं तो क्या वे छापने लायक होंगे।

अगर आप बार-बार किसी चीज को अपने अपमान का प्रतीक बनाएं तो वह एक हद के बाद वास्तव में उस अपमान का प्रतीक बन जाती है। क्योंकि प्रतीकों का अपने-आपमें कोई अर्थ नहीं होता। प्रतीक केवल व्यवहार से जुड़े होते हैं। जिस प्रतीक के इस्तेमाल को बार-बार केवल अपमान के व्यवहार से जोड़ा जाएगा तो वह वास्तव में उस अपमान का प्रतीक बन सकता है। उसके बाद यह बेमानी है कि उस प्रतीक को गढ़ने वाले के मन में क्या था, उसको किताब में छापने वाले के मन में क्या था और उसको शुरू में पढ़ने वालों को कैसा लगा था।

यहां एक सवाल पैदा होता है, जो पिछले कई सप्ताह से मुझे परेशान कर रहा है। मेरी आज भी मान्यता है कि यह कार्टून पिछले छः सालों में डॉ. अंबेडकर और दलित समाज के अपमान का आधार नहीं बना था। लेकिन अब यह कार्टून हजारों बार टी.वी. पर दिखाया गया है और हर बार इस कार्टून की चर्चा को एक विवाद से जोड़ा गया है। हर बार इस कार्टून की चर्चा के साथ यह बात कही गई है कि यह इस देश के एक महानायक का अपमान करता है। इस कार्टून को बार-बार दलित समाज के अपमान से जोड़ा गया है। इस संदर्भ में आज इस कार्टून का क्या अर्थ होगा? क्या अब किसी अध्यापक के लिए संभव होगा कि वह पाठ्यपुस्तक के इन पन्नों को आसानी से पलट ले? क्या अब संभव होगा किसी अध्यापक के लिए कि वह

कहे कि यह कार्टून केवल संविधान में देरी के बारे में उस जमाने के एक कार्टूनिस्ट की समझ भर है। अगर इस सब विवाद के बाद यह कार्टून पाठ्यपुस्तक में बचा रहता है, तो क्या कक्षा में बैठा दलित बच्चा इसे अपने अपमान का प्रतीक मानेगा? क्या यह कार्टून अनेक वर्षों तक इस चर्चा के दाग से मुक्त हो पाएगा?

मेरे पास इन सवालों का जवाब नहीं हैं। मुझे डर लगता है कि अपमान की शब्दावली बार-बार दोहराने पर, वह उस जगह को हासिल कर लेती है जिसकी संभावना के विरुद्ध उस शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। यानी, अगर आप बार-बार किसी चीज को अपने अपमान का प्रतीक बनाएं तो वह एक हद के बाद वास्तव में उस अपमान का प्रतीक बन जाती है। क्योंकि प्रतीकों का अपने-आपमें कोई अर्थ नहीं होता। प्रतीक केवल व्यवहार से जुड़े होते हैं। जिस प्रतीक के इस्तेमाल को बार-बार केवल अपमान के व्यवहार से जोड़ा जाएगा तो वह वास्तव में उस अपमान का प्रतीक बन सकता है। उसके बाद यह बेमानी है कि उस प्रतीक को गढ़ने वाले के मन में क्या था, उसको किताब में छापने वाले के मन में क्या था और उसको शुरू में पढ़ने वालों को कैसा लगा था। मुझे डर लगता है कि अंबेडकर के इस कार्टून में हम अब उस हद तक आ पहुंचे हैं। अगर मुझसे आज पूछें तो मैं कहूंगा कि इस कार्टून को कम से कम आने वाले कुछ समय के लिए पाठ्यपुस्तक से हटा देना चाहिए। सिर्फ इसलिए कि इस देश के किसी नागरिक को कभी यह महसूस न हो कि कोई ऐसी चीज जिसे उसके महानायक के अपमान का प्रतीक बताया गया, उसे जान-बूझकर उसके बाद इस पाठ्यपुस्तक में रहने दिया गया।

अनास्था के आरोप

दरअसल, इन किताबों को लेकर चली बहस में आज डॉ. अंबेडकर वाले कार्टून का मुद्दा गौण हो चुका था। असली मुद्दा वह है जिसे लोकसभा में 14 मई को उठाया गया था। याद रहे, लोकसभा की उस बहस में डॉ. अंबेडकर का नाम नहीं लिया गया। लोकसभा के सांसदों को एतराज इस बात पर था कि इन किताबों में राजनेताओं की खिल्ली उड़ाई गई है। इन किताबों में राजनीति के बारे में द्वेष जगाया गया है। इसमें संसद और संसदीय संस्थाओं का अपमान किया गया है। कुछेक सांसदों ने यहां तक कहा कि ये किताबें फासीवादी हैं। देश में राजनीति विरोध की मानसिकता को पैदा करती हैं।

मैं समझता हूं, इससे बड़ी विडम्बना कोई नहीं हो सकती। अगर ये किताबें कोई एक चीज करने की कोशिश करती हैं तो वह यह कि राजनीति में आस्था जगे, लोकतंत्र में भरोसा बने। नागरिक शास्त्र की पुरानी बोझिल उपदेशात्मक या विवरणात्मक किताबें दरअसल राजनीति के प्रति नासमझी, राजनीति की उपेक्षा और अंततः राजनीति से द्वेष की मानसिकता तैयार करती थीं। चूंकि, वे किताबें विद्यार्थियों को हकीकत की राजनीति देखने के लिए तैयार ही नहीं करती थीं इसलिए नागरिक शास्त्र की भली-भली, सुन्दर-सुन्दर बातें पढ़ने के बाद जब वे विद्यार्थी अखबार पढ़ते थे, दैनंदिन राजनीति से रू-ब-रू होते थे, तो जाहिर है उन्हें लगता था कि यह राजनीति तो हर सिद्धांत का उल्लंघन है, राजनीति के व्यवहार में कुछ भी सार्थक नहीं है। दरअसल, उस किस्म की किताबें ही 'सब नेता चोर हैं', वाली मानसिकता को जन्म देती थीं। राजनीति शास्त्र की इन नई किताबों में व्यवहार की राजनीति की पेचीदगियां समझाते हुए उसकी सार्थकता को पेश किया गया है। इन किताबों की कोशिश थी कि इनके जरिए यह समझाया जाए कि भारत में ही नहीं दुनिया भर में राजनीति बहुत पेचीदा होती है। भारत ही नहीं दुनिया भर में नागरिक राजनीति और राजनेताओं से असंतुष्ट रहते हैं। लेकिन अपनी तमाम पेचीदगियों और बुराइयों के बावजूद लोकतांत्रिक राजनीति एक औसत नागरिक की आकांक्षाओं को हासिल करने और उसके दुःख तकलीफ का निवारण करने का निमित्त बनती है। राजनैतिक संस्थाएं कभी भी, कहीं भी संविधान में लिखे नियम-कानून का अक्षरशः पालन नहीं करतीं, लेकिन इन संस्थाओं के काम करने से, परोक्ष रूप से, आम नागरिकों को बहुत कुछ हासिल होता है।

राजनेताओं की खिल्ली उड़ाना और राजनीति के प्रति द्वेष का भाव रखने वाले आरोप तो बहुत हास्यास्पद

हैं। शायद यह आरोप लगाने वाले सांसदों ने कुछ कार्टूनों की फोटोकॉपी के अलावा इन किताबों का चेहरा भी नहीं देखा था। दरअसल, कक्षा 9 की पाठ्यपुस्तक एक जगह विस्तार से समझाती है कि नौकरशाहों के ऊपर मंत्री का हुक्म क्यों चलना चाहिए। पुस्तक समझाती है कि चाहे अफसर ज्यादा पढ़े-लिखे हों, चाहे वे उस क्षेत्र के विशेषज्ञ हों फिर भी लोकतंत्र में जनप्रतिनिधियों की आवाज अंतिम रूप से निर्णायक होनी चाहिए। एक दूसरे अध्याय में पुस्तक यह दिखाती है कि चुनावी राजनीति भले ही कितने विवादों और तनावों को जन्म दे, चाहे कितनी ही कटुता की शुरुआत करे लेकिन इस जद्दोजहद के बीच नागरिकों की बात दर्ज होने, आम इंसान के दुःख-दर्द को दर्ज करने की एक गुंजाइश बनती है। संसद की सार्वभौमिकता का अमूर्त गुणगान करने की बजाय यह पुस्तक एक औसत दिन में लोकसभा क्या-क्या काम करती है, उसका ब्यौरा देकर यह साबित करती है कि संसद देश के जीवन में क्या स्थान रखती है।

जाहिर है, ऐसा करते वक्त यह पाठ्यपुस्तक उन बातों से किनारा नहीं करती जो अक्सर विद्यार्थियों के मन में होती हैं। एक औसत विद्यार्थी अखबार पढ़ता है, राजनेताओं के बारे में बात सुनता है और अक्सर काफी पूर्वाग्रह लेकर आता है और अगर पाठ्यपुस्तक समाज में होने वाली इस सामान्य बातचीत को कोई जगह नहीं देगी तो वह पाठ्यपुस्तक विश्वसनीय नहीं हो पाएगी। अगर पाठ्यपुस्तक राजनीति और राजनेताओं के बारे में हर संभव नकारात्मक चीज से मुंह मोड़ लेगी तो जाहिर है ऐसी पाठ्यपुस्तक विद्यार्थियों के मन में भरोसा पैदा नहीं कर सकेगी। हम चाहते थे कि हमारी पाठ्यपुस्तक इन तमाम पूर्वाग्रहों से खुलकर दो-चार हो, इसलिए इनमें से कई बातों को किताब में जगह दी गई है। मसलन, 'लोकतंत्र क्या और क्यों' नामक अध्याय में आमतौर पर लोकतंत्र के खिलाफ कही जाने वाली तमाम बातों को विस्तार से रखा गया है और बाद में उनका प्रतिकार भी किया गया है। अगर मुझसे पूछा जाए तो यह पुस्तक राजनीति में आस्था जगाने वाली पुस्तक है। इन पुस्तकों पर बच्चों से मिली चिट्ठियों से भी यही विश्वास जागता है। राजनीति में आस्था जगाना और हर राजनेता को दूध से धुला बताना दो अलग बातें हैं। जाहिर है ये पुस्तकें इस देश के हर राजनेता को 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की मूर्ति बताने जैसा हास्यास्पद काम नहीं करती। मैं समझता हूं इससे कुछ सांसदों को निराशा हुई है, लेकिन मुझे भरोसा है कि लोकतांत्रिक राजनीति में आस्था रखने वाले जो भी लोग इन किताबों को पढ़ने की जहमत उठाएंगे, वे लोकसभा में हुई बहस से सहमत नहीं हो पाएंगे।

पाठ और कुपाठ का फर्क

एक तीसरा विवाद हाल ही में उठा है, 12वीं कक्षा के क्षेत्रीय आंदोलनों से जुड़े अध्याय में हिन्दी विरोधी आंदोलन के बारे में छपे हुए एक कार्टून को लेकर। पहले दोनों विवादों की तरह यह विवाद भी नासमझी से पैदा हुआ है। दिक्कत यह है कि हम पाठ्यपुस्तक के किसी एक अंश को उसके संदर्भ से काटकर पढ़ना चाहते हैं। ऐसा अप्रसांगिक पाठ अर्थ की जगह अनर्थ को जन्म देता है। यह अध्याय हमारे समाज में व्याप्त पूर्वाग्रह को चुनौती देता है कि क्षेत्रीय दल और क्षेत्रीय आंदोलन भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रवाद के लिए चुनौती हैं। तमिलनाडु, कश्मीर, पूर्वोत्तर और पंजाब का उदाहरण देते हुए, यह उदाहरण इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि क्षेत्रीय आंदोलनों ने भारतीय राष्ट्रवाद की जड़ों को गहरा किया। क्षेत्रीय आंदोलनों को कुचलने की बजाय उनके साथ बातचीत करना, क्षेत्रीय विषमता का निदान करना और क्षेत्रीय आकांक्षाओं का सम्मान करना और उसके साथ सत्ता साझी करने के तरीके ढूंढ़ना; लोकतांत्रिक तरीके हैं। विडम्बना यह है कि ऐसे अध्याय में से एक टुकड़े को पकड़कर इसे तमिल अस्मिता के अपमान के रूप में पेश किया जा रहा है।

यह प्रसंग हमें पाठ्यपुस्तक के पाठ और कुपाठ में अंतर करने में मदद देता है। जिस कार्टून के बारे में विवाद है वह द्रविड़ आंदोलन पर लिखे दो पेज के एक खण्ड से लिया गया है। इन दो पेजों में द्रविड़ आंदोलन के इतिहास, प्रमुख घटनाओं, प्रमुख व्यक्तियों और उसकी मांगों का ब्यौरा दिया गया है। इस ब्यौरे से निष्कर्ष यह निकाला गया है कि शुरू में भारतीय राष्ट्रीयता को चुनौती देता लगने वाला तमिल राष्ट्रवाद यह साबित

करता है कि क्षेत्रीय अस्मिता और राष्ट्रीयता में कोई विरोधाभास नहीं है। इन दो पन्नों पर पाठ के अलावा चार अन्य चीजों का प्रयोग किया गया है। द्रविड़ आंदोलन के जनक पेरियार की जीवनी पर एक बॉक्स है, एक तस्वीर है जो हिन्दी विरोधी आंदोलन के जन समर्थन का आभास देती है। अखबार की एक कतरन है जो इस आंदोलन के हिन्दीवादियों द्वारा विरोध की जानकारी देती है और यह कार्टून है जो इस विडम्बना की ओर इशारा करता है कि हिन्दी का विरोध करते हुए अंग्रेजी की मांग करने वाले कई आंदोलनकारी खुद अंग्रेजी में पारंगत नहीं थे। विरोध करने वाले कह रहे हैं कि उन्हें पाठ पसंद है, पेरियार की जीवनी पसंद है, फोटो पसंद है; बस कार्टून निकाल दिया जाना चाहिए। पाठ्यपुस्तक को इस तरह टुकड़ों-टुकड़ों में पढ़कर देखने की प्रक्रिया वह कुपाठ पैदा करती है जिसके चलते तमाम गलतफहमियां पैदा हुई हैं। सवाल यह नहीं है कि इन चारों चीजों में से हर कोई अपने-आपमें पर्याप्त और ग्राह्य है या नहीं। सवाल यह है कि कुल मिलाकर ये चारों चीजें और पाठ द्रविड़ आंदोलन के इतिहास के बारे में एक संतुलित और निष्पक्ष दृष्टि पैदा करते हैं या नहीं? दिक्कत यह है कि हमारे देश में अभी इन सवालों पर बातचीत करने के लिए एक संजीदा माहौल तैयार नहीं हुआ है। सारी बहस उस पुरानी सोच में जकड़ी हुई है कि पाठ्यपुस्तक का हर वाक्य ब्रह्म वाक्य है, हर तस्वीर सरकारी तस्वीर है, हर छवि पर आधिकारिक ठप्पा लगा हुआ है। जब तक हम इस मानसिकता से बाहर नहीं आते तब तक इन पाठ्यपुस्तकों को समझने की क्षमता नहीं बन सकेगी।

इन पाठ्यपुस्तकों पर हुए इस विवाद से मैं हैरान हूं, परेशान भी रहा हूं, लेकिन मैंने आस नहीं छोड़ी है। लोकतंत्र में सब कुछ बहस और संघर्ष से ही हासिल होता है और लोकतांत्रिक बहस में पहले से रेखाएं और सीमाएं नहीं बांधी जा सकतीं। शायद ये पाठ्यपुस्तकें हमारे देश के सांसदों और आंदोलनकारियों की मानसिकता से कहीं आगे बढ़ी हुई थीं। इस मायने में हम शायद उस घिसे-पिटे मुहावरे का इस्तेमाल कर सकते हैं कि ये किताबें अपने समय से आगे थीं। लेकिन दरअसल यह मुहावरा भी घिसा-पिटा ही है क्योंकि कोई भी चीज अपने समय से आगे नहीं होती है। ये किताबें कहीं बाहर से नहीं आईं, इस देश के सैकड़ों अध्यापकों, बुद्धिजीवियों और राजनीति शास्त्रियों के दिमाग से उपजी हैं। संभव है कि अन्य दायरों में इन किताबों को स्वीकार करने की मानसिक तैयारी न रही हो। यह तैयारी रातों-रात नहीं होगी। इस तरह की उलझी, तीखी बहसों से ही लोकतंत्र में मानसिक तैयारी होती है।

इति शुभम्

बीते सप्ताहों की इस राष्ट्रीय बहस ने पहली बार राजनीति शास्त्र क्या हो और स्कूलों में राजनीति शास्त्र कैसे पढ़ाया जाए; इस सवाल को देश के सामने खड़ा किया है। इस सवाल का उत्तर जिस तरह से दिया गया है वह हास्यास्पद हो सकता है। कभी-कभी ऐसे क्षण आते हैं, जब बहुत हताशा महसूस होती है। कभी-कभी गुस्सा भी आता है, लेकिन आज से 20 साल बाद शायद बड़ी बात यह नहीं होगी कि इन सवालों का उत्तर कैसे दिया गया। शायद बड़ी बात होगी कि यह सवाल देश के पटल पर स्थापित हुआ कि इस देश की संसद ने राजनीति शास्त्र की किताबों को लेकर कुछ घंटे बहस की। कुछ दिनों तक इस देश के अखबारों, टी.वी. चैनलों ने राजनीति शास्त्र के पाठ पर गहरी बातचीत की। कम से कम इस बहस के चलते बहुत से लोगों ने इन किताबों को पहली बार पढ़ा। राजनीति शास्त्र की पाठ्यपुस्तक स्कूलों के बाहर राजनीति का मुद्दा बनी, यह शुरुआत में अटपटाहट पैदा करता है, झुंझलाहट भी पैदा करता है। लेकिन मुझे यकीन है कि दीर्घकाल में यह किसी शुभ को जन्म देगा। राजनीति में आस्था रखने वाली किताबें राजनीति से परहेज रखने की मांग नहीं कर सकतीं। ◆